

जैन आगमों की मूल भाषा : अर्धमागधी या शौरसेनी?

वर्तमान में 'प्राकृत विद्या' नामक शोध-पत्रिका के माध्यम से जैन विद्या के विद्वानों का एक वर्ग आग्रहपूर्वक यह प्रतिपादन कर रहा है कि "जैन आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी, जिसे कालान्तर में परिवर्तित करके अर्धमागधी बना दी गई"। इस वर्ग का यह भी दावा है कि शौरसेनी प्राकृत ही प्राचीनतम प्राकृत है और अन्य सभी प्राकृते यथा— मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि इसी से विकसित हुई हैं, अतः ये सभी शौरसेनी प्राकृत से परिवर्ती भी हैं। इसी क्रम में दिगम्बर-परम्परा में आगमों के रूप में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निहित अर्धमागधी और महाराष्ट्री शब्द रूपों को परिवर्तित कर उन्हें शौरसेनी में रूपान्तरित करने का एक सुनियोजित प्रयत्न भी किया जा रहा है। इस समस्त प्रचार-प्रसार के पीछे मूलभूत उद्देश्य यह है कि श्वेताम्बर मान्य आगमों को दिगम्बर-परम्परा में मान्य आगम तुल्य ग्रन्थों से अर्वाचीन और अपने शौरसेनी में निबद्ध आगम तुल्य ग्रन्थों को प्राचीन सिद्ध किया जाये। इस पारस्परिक विवाद का एक परिणाम यह भी हो रहा है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के बीच कटुता को खाई गहरी होती जा रही है और इन सब में एक निष्पक्ष भाषाशास्त्रीय अध्ययन को पीछे छोड़ दिया जा रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में मैं इन सभी प्रश्नों पर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्परा में आगम रूप में मान्य ग्रन्थों के आलोक में चर्चा करने का प्रयत्न करूँगा।

क्या आगम साहित्य मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था?

यहाँ सर्वप्रथम मैं इस प्रश्न की चर्चा करना चाहूँगा कि क्या जैन आगम साहित्य मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था और उसे बाद में परिवर्तित करके अर्धमागधी रूप दिया गया? जैन विद्या के कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि जैन आगम साहित्य मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुआ था और उसे बाद में अर्धमागधी में रूपान्तरित किया गया। अपने इस कथन के पक्ष में वे श्वेताम्बर-दिगम्बर किन्हीं भी आगमों का प्रमाण न देकर प्रो० टॉटिया के व्याख्यान के कुछ अंश उद्धृत करते हैं। डॉ० सुदीप जैन ने 'प्राकृतविद्या' जनवरी-मार्च, १९९६ के सम्पादकीय में उनके कथन को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—

हाल ही में श्री लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ में सम्पन्न द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्दस्मृति व्याख्यानमाला में विश्वविश्रुत भाषाशास्त्री एवं दार्शनिक विचारक प्रो० नथमलजी टाँटिया ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि “श्रमण-साहित्य का प्राचीन-रूप, चाहे वे बौद्धों के त्रिपिटक आदि हों, श्वेताम्बरों के ‘आचाराङ्गसूत्र’, ‘दशवैकालिकसूत्र’ आदि हों अथवा दिगम्बरों के ‘षट्खण्डागमसूत्र’, ‘समयसार’ आदि हों, सभी शौरसेनी प्राकृत में ही निबद्ध थे। उन्होंने आगे सप्रमाण स्पष्ट किया कि बौद्धों ने बाद में श्रीलंका में एक बृहत्संगीति में योजनापूर्वक शौरसेनी में निबद्ध बौद्ध-साहित्य का मागधीकरण किया और प्राचीन शौरसेनी में निबद्ध बौद्ध-साहित्य के ग्रन्थों को अग्निसात कर दिया। इसी प्रकार श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृत में ही था, जिसका रूप क्रमशः अर्धमागधी में बदल गया। यदि हम वर्तमान अर्धमागधी आगम साहित्य को ही मूल श्वेताम्बर आगम साहित्य मानने पर जोर देंगे, तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से पन्द्रह सौ वर्ष के पहले अस्तित्व ही नहीं होने से इन स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को भी ५०० ई० से परवर्ती मानना पड़ेगा।”

“उन्होंने स्पष्ट किया कि आज भी ‘आचाराङ्गसूत्र’ आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है, जबकि नये प्रकाशित संस्करणों में उन शब्दों का अर्धमागधीकरण हो गया है। उन्होंने कहा कि पक्षव्यामोह के कारण ऐसे परिवर्तनों से हम अपने साहित्य का प्राचीन मूल रूप खो रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि दिगम्बर जैन साहित्य में ही शौरसेनी भाषा के प्राचीनरूप सुरक्षित एवं उपलब्ध हैं।”

निस्सन्देह प्रो० टाँटिया जैन और बौद्ध-विद्याओं के वरिष्ठतम विद्वानों में एक रहे हैं और उनके कथन का कोई अर्थ और आधार भी होगा; किन्तु ये कथन उनके अपने हैं या उन्हें अपने पक्ष की पुष्टि हेतु तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है? क्योंकि एक ओर तुलसीप्रज्ञा के सम्पादक का कहना है कि टाँटियाजी ने इसका खण्डन किया है। वे तुलसीप्रज्ञा (अप्रैल-जून, १९९३, खण्ड १९, अंक १) में लिखते हैं कि “डॉ० नथमल टाँटिया ने दिल्ली की एक पत्रिका में छपे और उनके नाम से प्रचारित इस कथन का खण्डन किया है कि महावीरवाणी शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुई। उन्होंने स्पष्ट मत प्रकट किया कि आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, सूत्रकृताङ्ग और दशवैकालिक में अर्धमागधी भाषा का उत्कृष्ट रूप है।”

दूसरी ओर प्राकृतविद्या के सम्पादक डॉ० सुदीपजी का कथन है कि उनके व्याख्यान की टेप हमारे पास उपलब्ध है और हमने उनके विचारों की अविकल रूप से यथावत् प्रस्तुती की है। मात्र इतना ही नहीं डॉ० सुदीपजी का तो यह भी कथन है कि तुलसीप्रज्ञा के खण्डन के बाद भी वे टाँटियाजी से मिले हैं और टाँटियाजी ने उन्हें कहा है कि वे अपने कथन पर आज भी दृढ़ हैं। टाँटियाजी के इस कथन को

उन्होंने **प्राकृतविद्या** जुलाई-सितम्बर १९९६ के अंक में निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है—

“मैं संस्कृत विद्यापीठ की व्याख्यानमाला में प्रस्तुत तथ्यों पर पूर्णतया दृढ़ हूँ तथा यह मेरी तथ्याधारित स्पष्ट अवधारणा है जिससे विचलित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।” (पृ० ९)

यह समस्त विवाद दो पत्रिकाओं के माध्यम से दोनों सम्पादकों के मध्य है; किन्तु इस विवाद में सत्यता क्या है और डॉ० टाँटिया का मूल मन्तव्य क्या है, इसका निर्णय तो तभी सम्भव था जब डॉ० टाँटिया स्वयं इस सम्बन्ध में लिखित वक्तव्य देते; किन्तु वे इस सम्बन्ध में मौन रहे। मैंने स्वयं उन्हें पत्र लिखा था; किन्तु उनका कोई प्रत्युत्तर नहीं आया। मैं डॉ० टाँटिया की उलझन समझता हूँ—एक ओर कुन्दकुन्द भारती ने उन्हें कुन्दकुन्द व्याख्यान हेतु आमन्त्रित किया था, तो दूसरी ओर वे ‘जैन विश्वभारती’ की सेवा में थे, जब जिस मंच से बोले होंगे भावावेश में उनके अनुकूल कुछ कह दिये होंगे और अब स्पष्ट खण्डन भी कैसे करें? फिर भी मेरी अन्तरात्मा यह स्वीकार नहीं करती है कि डॉ० टाँटिया जैसे गम्भीर विद्वान् बिना प्रमाण के ऐसे वक्तव्य दे दें। कहीं न कहीं शब्दों की कोई जोड़-तोड़ अवश्य हो रही है। डॉ० सुदीपजी **प्राकृतविद्या** जुलाई-सितम्बर, १९९६ में डॉ० टाँटियाजी के उक्त व्याख्यानों के विचार बिन्दुओं को अविकल रूप से प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि “हरिभद्र का साय **योगशतक** धवला से (के आधार पर बना) है।”

इसका तात्पर्य है कि हरिभद्र ने ‘योगशतक’ को धवला के आधार पर बनाया है। क्या टाँटियाजी जैसे विद्वान् को इतना भी इतिहास-बोध नहीं रहा होगा कि ‘योगशतक’ के कर्ता हरिभद्रसूरि और ‘धवला’ के कर्ता में कौन पहले हुआ है? यह ऐतिहासिक सत्य है कि हरिभद्रसूरि का ‘योगशतक’ (आठवीं शती) ‘धवला’ (१०वीं शती) से पूर्ववर्ती है। मुझे विश्वास भी नहीं होता है कि टाँटियाजी जैसे विद्वान् इस ऐतिहासिक सत्य को अनदेखा कर दें। कहीं न कहीं उनके नाम पर कोई भ्रम खड़ा किया गया है।”

वस्तुतः यदि कोई भी चर्चा प्रमाणों के आधार पर नहीं होती है तो उसे मान्य नहीं किया जा सकता है, फिर चाहे उसे कितने ही बड़े विद्वान् ने क्यों न कहा हो? यदि व्यक्ति का ही महत्त्व मान्य है, तो अभी संयोग से टाँटियाजी से भी वरिष्ठ, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के जैन-बौद्ध विद्याओं के महामनीषी और स्वयं टाँटियाजी के गुरु पद्मविभूषण पं० दलसुखभाई हमारे बीच हैं*, फिर तो उनके कथन को अधिक प्रामाणिक

*. ज्ञातव्य है कि विगत २० फरवरी १९९९ ई० आदरणीय टाँटियाजी का स्वर्गवास हो गया है। अतः उनके नाम पर प्रसारित भ्रमों से बचना आवश्यक है।

*. पं० मालवणिया जी भी अब नहीं रहे।

मानकर 'प्राकृतविद्या' के सम्पादक को स्वीकार करना होगा। खैर यह सब प्रास्ताविक बातें थीं, जिससे यह समझा जा सके कि समस्या क्या है, कैसे उत्पन्न हुई और प्रस्तुत संगोष्ठी की क्या आवश्यकता है? हमें तो व्यक्तियों के कथनों या वक्तव्यों पर न जाकर तथ्यों के प्रकाश में इसकी समीक्षा करनी है कि जैन आगमों की मूल भाषा क्या थी और अर्धमागधी तथा शौरसेनी में कौन प्राचीन है?

आगमों की मूल भाषा-अर्धमागधी

(क) यह एक सुनिश्चित सत्य है कि महावीर का जन्मक्षेत्र और कार्यक्षेत्र दोनों ही मुख्य रूप से मगध और उसका समीपवर्ती क्षेत्र ही रहा है, अतः यह स्वाभाविक है कि उन्होंने जिस भाषा में बोला होगा वह समीपवर्ती क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी रही होगी। व्यक्ति की भाषा कभी भी अपनी मातृभाषा से अप्रभावित नहीं होती है। पुनः श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य जो भी 'आगम साहित्य' आज उपलब्ध है, उनमें अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनमें स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी भाषा में दिये थे।

इस सम्बन्ध में अर्धमागधी आगम साहित्य से कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं यथा—

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। -समवायांग, समवाय ३४, सूत्र २२.
२. तए णं समणे भगवं महावीरे कुणिअस्स भंभसारपुत्तस्स अद्धमागहाए भासाए भासिता अरिहा धम्मं परिकहेइ। -औपपातिकसूत्र
३. गोयमा! देवा णं अद्धमागहीए भासाए भासंति स वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिज्जति। -भगवई, लाडनूं, शतक ५, उद्देशक ४, सूत्र ९३.
४. तए णं समये भगवं महावीरे उसभदत्तमाहणस्स देवाणं दामाहणीए तीसे य महति महलियाए इसिपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए... सव्व भाषाणुगामिणिय सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमागहाए भासाए भासए धम्मं परिकहेइ। -भगवई, लाडनूं, शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १४९.
५. तए णं समये भगवं महावीरे जामालिस्स खत्तियकुमारस्स ... अद्धमागहाए भासाए भासइ धम्मं परिकहेइ। -भगवई, लाडनूं, शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १६३.
६. सव्वसत्तसमदरिसीहिं अद्धमागहाए भासाए सुत्तं उवदिट्ठं। -आचाराङ्गचूर्णि, जिनदासगणि, पृ० २५५.

मात्र इतना ही नहीं, दिगम्बर-परम्परा में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ

‘बोधपाहुड’, जो स्वयं शौरसेनी में निबद्ध है, उसकी टीका में दिगम्बर आचार्य श्रुतसागरजी लिखते हैं कि भगवान् महावीर ने अर्धमागधी भाषा में अपना उपदेश दिया था। प्रमाण के लिये उस टीका के हिन्दी अनुवाद का यह अंश प्रस्तुत है। ‘अर्ध मगधदेश भाषात्मक और अर्ध सर्वभाषात्मक भगवान् की ध्वनि खिरती है। शंका— अर्धमागधी भाषा देवकृत अतिशय कैसे हो सकती है, क्योंकि भगवान् की भाषा ही अर्धमागधी है? उत्तर- मगध देव के सान्निध्य में होने से।’ आचार्य प्रभाचन्द्र ने ‘नन्दीश्वर भक्ति’ के अर्थ में लिखा है— “एक योजन तक भगवान् की वाणी स्वयमेव सुनायी देती है। उसके आगे संख्यात योजनों तक उस दिव्य ध्वनि का विस्तार मगध जाति के देव करते हैं। अतः अर्धमागधी भाषा देवकृत है।” (षट्प्राभृतम्, चतुर्थ बोधपाहुड-टीका, गाथा ३२, पृ० ११९)

मात्र यही नहीं, वर्तमान में भी दिगम्बर-परम्परा के महान् सन्त एवं आचार्य विद्यासागरजी के प्रमुख शिष्य मुनिश्री प्रमाणसागरजी अपनी पुस्तक जैनधर्म-दर्शन, (प्रथम संस्करण) पृ०४० पर लिखते हैं कि ‘उन भगवान् महावीर का उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमागधी भाषा में हुआ।’

जब श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ यह मानकर चल रही हैं कि भगवान् का उपदेश अर्धमागधी में हुआ था और इसी भाषा में उनके उपदेशों के आधार पर आगमों का प्रणयन हुआ तो फिर शौरसेनी के नाम से नया विवाद खड़ा करके इस खाई को चौड़ा क्यों किया जा रहा है?

(ख) उपरोक्त आगमिक प्रमाणों की चर्चा के अलावा व्यावहारिक एवं ऐतिहासिक तथ्य भी इसी की पुष्टि करते हैं—

१. यदि भगवान् महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी में दिये तो यह स्वाभाविक है कि गणधरों ने उसी भाषा में आगमों का प्रणयन किया होगा। अतः आगमों की मूलभाषा क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी रही है, यह मानना होगा।

*. इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत इस प्रकार है—

सर्वार्धमागधीया भाषा भवति, कोऽर्थः अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं, अर्धं च सर्वभाषात्मकं, कथमेवं देवोपनीतत्वं तदतिशयस्येति चेत्? मगधदेश सन्निधाने तथापरिणतया भाषया संस्कृत भाषया प्रवर्तते। सर्वजनेता विषया मैत्री भवति सर्वे हि जनसमूहा मागधप्रीतिकरदेवातिशयवशान्मागधभाषया भाषन्तेऽन्योन्यं मित्रतया च वर्तन्ते इति द्वातिशयौ। -षट्प्राभृतादि-संग्रहः श्री मा०दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, वि०सं० १९७७, पृ० ९९, गाथा, ३२.

२. इसके विपरीत 'शौरसेनी आगम तुल्य' मान्य ग्रन्थों में किसी एक भी ग्रन्थ में एक भी सन्दर्भ ऐसा नहीं है, जिससे यह प्रतिध्वनित भी होता हो कि आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। उनमें मात्र यह उल्लेख है कि तीर्थङ्करों की जो वाणी खिरती है, वह सर्वभाषारूप परिणत होती है। इसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि उनकी वाणी जनसाधारण को आसानी से समझ में आती थी। यह लोकवाणी थी। उसमें मगध के निकटवर्ती क्षेत्रों की क्षेत्रीय बोलियों के शब्द रूप भी होते थे और यही कारण था कि उसे मागधी न कहकर अर्धमागधी कहा गया है।
३. जो ग्रन्थ जिस क्षेत्र में रचित या सम्पादित होता है, उसका वहाँ की बोली से प्रभावित होना स्वाभाविक है। प्राचीन स्तर के 'जैन आगम' यथा— 'आचाराङ्ग', 'सूत्रकृताङ्ग', 'ऋषिभाषित', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' आदि मगध और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में रचित हैं और उनमें इसी क्षेत्र के नगरों आदि की सूचनाएँ हैं। मूल आगमों में एक भी ऐसी सूचना नहीं है कि भगवान् महावीर ने बिहार, बंगाल और पूर्वी उत्तर प्रदेश से आगे विहार किया हो। अतः उनकी भाषा अर्धमागधी ही रही होगी।
४. पुनः आगमों की प्रथम वाचना पाटलिपुत्र में और दूसरी वाचना खण्डगिरि (उड़ीसा) में हुई, ये दोनों क्षेत्र मथुरा से पर्याप्त दूरी पर स्थित हैं, अतः कम से कम प्रथम और द्वितीय वाचना के समय तक अर्थात् ई०पू० दूसरी या प्रथम शती तक उनके शौरसेनी में रूपान्तरित होने का या उससे प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

यह सत्य है कि उसके पश्चात् जब जैनधर्म एवं विद्या का केन्द्र पाटलिपुत्र से हटकर लगभग ई०पू० दूसरी शती या ई०पू० प्रथम शती में मथुरा बना तो उस पर शौरसेनी का प्रभाव आना प्रारम्भ हुआ हो। यद्यपि मथुरा से प्राप्त दूसरी शती तक के अभिलेखों का शौरसेनी के प्रभाव से मुक्त होना यही सिद्ध करता है कि जैनागमों पर शौरसेनी का प्रभाव दूसरी शती के पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ होगा। सम्भवतः फल्गुमित्र (दूसरी शती) के समय या उसके भी पश्चात् स्कन्दिल (चतुर्थ शती) की 'माथुरी वाचना' के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया था, यही कारण है कि 'यापनीय-परम्परा' में मान्य 'आचाराङ्ग', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक', 'निशीथ', 'कल्प' आदि जो आगम रहे हैं, वे शौरसेनी से प्रभावित रहे हैं। यदि डॉ० टॉटिया ने यह कहा है कि 'आचाराङ्ग' आदि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी से प्रभावित संस्करण भी था, जो मथुरा क्षेत्र में विकसित 'यापनीय-परम्परा' को मान्य था, तो उनका कथन सत्य है क्योंकि 'भगवती आराधना' की टीका में 'आचाराङ्ग', 'उत्तराध्ययन', 'निशीथ' आदि के जो सन्दर्भ दिये गये हैं वे सभी शौरसेनी से प्रभावित हैं; किन्तु इसका यह अर्थ कदापि

नहीं कि आगमों की रचना शौरसेनी में हुई थी और वे बाद में अर्धमागधी में रूपान्तरित किये गये। ज्ञातव्य है कि 'माथुरी वाचना' स्कन्दिल के समय भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग आठ सौ वर्ष पश्चात् हुई थी और उसमें जिन आगमों की वाचना हुई, वे सभी उसके पूर्व अस्तित्व में थे ही। यापनीयों ने आगमों के इसी शौरसेनी-प्रभावित संस्करण को मान्य किया था; किन्तु दिगम्बरों के लिये तो वे आगम भी मान्य नहीं थे, क्योंकि उनके अनुसार तो इस 'माथुरी वाचना' के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व ही 'आगम साहित्य' विलुप्त हो चुका था। श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य 'आचाराङ्ग', 'सूत्रकृताङ्ग', 'ऋषिभाषित', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक', 'कल्प', 'व्यवहार', 'निशीथ' आदि तो ई०पू० चौथी शती से दूसरी शती तक की रचनाएँ हैं, जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। ज्ञातव्य है कि मथुरा का जैन विद्या के केन्द्र के रूप में विकास ई०पू० द्वितीय या प्रथम शती से ही हुआ है और उसके पश्चात् ही इन आगमों पर शौरसेनी प्रभाव आया होगा।

आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन कब और कैसे?

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्कन्दिलाचार्य की इस 'माथुरी वाचना' के समय ही समानान्तर रूप से एक वाचना वलभी (गुजरात) में नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई थी, अतः इसी काल में उस पर महाराष्ट्री का प्रभाव भी आया, क्योंकि उस क्षेत्र की प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत थी। इसी महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित 'आगम' आज तक श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य हैं। अतः इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आगमों के महाराष्ट्री-प्रभावित और शौरसेनी-प्रभावित संस्करण, जो लगभग ईसा की चतुर्थ-पञ्चम शती में अस्तित्व में आये, उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम ही रहे। यहाँ भी ज्ञातव्य है कि न तो स्कन्दिलाचार्य की 'माथुरी वाचना' में और न नागार्जुन की 'वलभी वाचना' में आगमों की भाषा में सोच-समझपूर्वक कोई परिवर्तन किया गया था। वास्तविकता यह है कि उस युग तक 'आगम' कण्ठस्थ चले आ रहे थे और कोई भी कण्ठस्थ ग्रन्थ स्वाभाविक रूप से कण्ठस्थ करनेवाले व्यक्ति की क्षेत्रीय बोली से अर्थात् उच्चारण शैली से अप्रभावित नहीं रह सकता है, यही कारण था कि जो उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ मथुरा में एकत्रित हुआ उसके 'आगम पाठ' उस क्षेत्र की बोली-शौरसेनी से प्रभावित हुए और जो पश्चिमी भारत का निर्ग्रन्थ संघ वलभी में एकत्रित हुआ, उसके 'आगम पाठ' इस क्षेत्र की बोली महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुए। पुनः यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन दोनों वाचनाओं में सम्पादित आगमों का मूल आधार तो 'अर्धमागधी आगम' ही थे, यही कारण है कि 'शौरसेनी आगम' न तो शुद्ध शौरसेनी में हैं और न वलभी वाचना के आगम शुद्ध महाराष्ट्री में, उन दोनों में अर्धमागधी के शब्द-रूप तो उपलब्ध हो ही रहे हैं। शौरसेनी आगमों में तो अर्धमागधी के साथ-साथ महाराष्ट्री प्राकृत के शब्द-रूप भी बहुलता से मिलते हैं, यही कारण है कि भाषाविद्

उनकी भाषा को जैन शौरसेनी और जैन महाराष्ट्री कहते हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि जिन शौरसेनी आगमों की दुहाई दी जा रही है, उनमें से अनेक आगम ५० प्रतिशत से अधिक अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य आगमों में प्राकृत के रूपों का जो वैविध्य है, उसके कारणों की विस्तृत चर्चा मैंने अपने लेख 'जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन : एक विमर्श', सागर जैन विद्याभारती (भाग १, पृ० २३९-२४३) में की है। प्रस्तुत प्रसंग में उसका निम्न अंश द्रष्टव्य है—

“जैन आगमिक एवं आगम रूप में मान्य अर्धमागधी तथा शौरसेनी ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। वस्तुतः इन ग्रन्थों में हुए भाषिक परिवर्तनों का कोई एक ही कारण नहीं है, अपितु अनेक कारण हैं, जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे—

१. भारत में, वैदिक-परम्परा में वेद वचनों को मन्त्र रूप में मानकर उनके स्वर-व्यञ्जन की उच्चारण योजना को अपरिवर्तनीय बनाये रखने पर अधिक बल दिया गया। उनके लिये शब्द और ध्वनि ही महत्त्वपूर्ण रही और अर्थ गौण रहा। यही कारण है कि आज भी अनेक वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हैं, जो वेदमन्त्रों की उच्चारण शैली, लय आदि के प्रति तो अत्यन्त सतर्क रहते हैं; किन्तु वे उनके अर्थों को नहीं जानते हैं। यही कारण है कि वेद शब्द रूप में यथावत् बने रहे। इसके विपरीत जैन-परम्परा में यह माना गया कि तीर्थङ्कर अर्थ के उपदेष्टा होते हैं उनके वचनों को शब्द रूप तो गणधर आदि के द्वारा दिया जाता है। अतः जैनाचार्यों के लिये अर्थ या कथन का तात्पर्य ही प्रमुख था, उन्होंने कभी भी शब्दों पर बल नहीं दिया। शब्दों में चाहे परिवर्तन हो जाए, लेकिन अर्थों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए, यही जैन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य रहा। शब्द रूपों की उनकी इस उपेक्षा के फलस्वरूप आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन होते गये। इसी क्रम में ईसा की चतुर्थ शती में अर्धमागधी आगमों के शौरसेनी- प्रभावित और महाराष्ट्री-प्रभावित संस्करण अस्तित्व में आये।
२. आगम साहित्य में जो भाषिक परिवर्तन हुए उसका दूसरा कारण यह था कि जैन भिक्षु संघ में विभिन्न प्रदेशों के भिक्षुगण सम्मिलित थे। अपनी-अपनी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित होने के कारण उनकी उच्चारण शैली में भी स्वाभाविक भिन्नता रहती थी, फलतः उनके द्वारा कण्ठस्थ आगम साहित्य के भाषिक स्वरूप में भिन्नताएँ आ गयीं।
३. जैन भिक्षु सामान्यतया भ्रमणशील होते हैं, भ्रमणशीलता के कारण उनकी बोलियों, भाषाओं पर भी अन्य प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव पड़ता ही था, फलतः आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ और उनमें तत्-तत् क्षेत्रीय

बोलियों का मिश्रण होता गया। उदाहरण के रूप में जब पूर्व का भिक्षु पश्चिमी प्रदेशों में अधिक विहार करता है, तो उसकी भाषा में पूर्व एवं पश्चिम दोनों की ही बोलियों का प्रभाव आ जाता है। फलतः उनके द्वारा कण्ठस्थ आगम के भाषिक स्वरूप की एकरूपता समाप्त हो जाती है।

४. सामान्यतया बुद्ध के वचन बुद्ध के निर्वाण के २००-३०० वर्ष के अन्दर ही अन्दर लिखित रूप में आ गये। अतः उनके भाषिक स्वरूप में रचना-काल के बाद बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया है, तथापि उनकी उच्चारण शैली विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रही है। आज भी श्रीलंका, बर्मा, थाईलैण्ड आदि देशों के भिक्षुओं का त्रिपिटक का उच्चारण भिन्न-भिन्न होता है, फिर भी उनके लिखित स्वरूप में बहुत कुछ एकरूपता है। इसके विपरीत जैन आगमिक एवं आगमतुल्य साहित्य एक सुदीर्घकाल तक लिखित रूप में नहीं आ सका, वह गुरु-शिष्य-परम्परा से मौखिक ही चलता रहा, फलतः देशकालगत उच्चारण भेद से उनको लिपिबद्ध करते समय उनके भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। मात्र यही नहीं, लिखित प्रतिलिपियों के पाठ भी प्रतिलिपिकारों की असावधानी या क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित हुए। श्वेताम्बर आगमों की प्रतिलिपियाँ मुख्यतः गुजरात एवं राजस्थान में हुईं, अतः उन पर महाराष्ट्री का प्रभाव आ गया।
५. भारत में कागज का प्रचलन न होने से भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर ग्रन्थों को लिखवाना और उन्हें सुरक्षित रखना जैन मुनियों की अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना के प्रतिकूल था। लगभग ई० सन् की ५वीं शती तक इस कार्य को पाप-प्रवृत्ति माना जाता था तथा इसके लिये दण्ड की व्यवस्था भी थी। फलतः महावीर के पश्चात् लगभग १००० वर्ष तक जैन साहित्य श्रुत-परम्परा पर ही आधारित रहा। श्रुत-परम्परा पर आधारित होने से आगमों के भाषिक स्वरूप में वैविध्य आ गया।
६. आगमिक एवं आगम-तुल्य साहित्य में आज भाषिक रूपों का जो वैविध्य देखा जाता है, उसका एक कारण लहियों (प्रतिलिपिकारों) की असावधानी भी रही है। प्रतिलिपिकार जिस क्षेत्र का होता था, उस पर भी उस क्षेत्र की बोली/भाषा का प्रभाव रहता था और असावधानी से अपनी प्रादेशिक बोली के शब्द-रूपों को लिख देता था। उदाहरण के रूप में चाहे मूलपाठ में “गच्छति” लिखा हो लेकिन यदि उस क्षेत्र में प्रचलन में “गच्छइ” का व्यवहार है, तो प्रतिलिपिकार “गच्छइ” रूप ही लिख देगा।
७. जैन आगम एवं आगम-तुल्य ग्रन्थों में आये भाषिक परिवर्तनों का एक कारण

यह भी है कि वे विभिन्न कालों एवं प्रदेशों में सम्पादित होते रहे हैं। सम्पादकों ने उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु उन्हें सम्पादित करते समय अपने युग एवं क्षेत्र की प्रचलित भाषा और व्याकरण के आधार पर उनमें परिवर्तन भी कर दिया। यही कारण है कि अर्धमागधी में लिखित आगम भी जब मथुरा में संकलित एवं सम्पादित हुए, तो उनका भाषिक स्वरूप अर्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी के निकट हो गया, और जब वलभी में लिखे गये तो वह महाराष्ट्री के प्रभावित हो गया। यह अलग बात है कि ऐसा परिवर्तन सम्पूर्ण रूप में न हो सका और उसमें अर्धमागधी के तत्त्व भी बने रहे। अतः अर्धमागधी और शौरसेनी आगमों में भाषिक स्वरूप का जो वैविध्य है, वह एक यथार्थता है, जिसे हमें स्वीकार करना होगा।”

क्या शौरसेनी आगमों के भाषिक स्वरूप में एकरूपता है?

डॉ० सुदीप जैन का दावा है कि “आज भी शौरसेनी आगम साहित्य में भाषिक तत्त्व की एकरूपता है, जबकि अर्धमागधी आगम साहित्य में भाषा के विविध रूप पाये जाते हैं। उदाहरणस्वरूप शौरसेनी में सर्वत्र “ण” का प्रयोग मिलता है, कहीं भी “न” का प्रयोग नहीं है जबकि अर्धमागधी में नकार के साथ-साथ णकार का प्रयोग भी विकल्पतः मिलता है। यदि शौरसेनी युग में नकार का प्रयोग आगम भाषा में प्रचलित होता, तो दिगम्बर-साहित्य में कहीं तो विकल्प से नकार प्राप्त होता।” — प्राकृतविद्या, जुलाई-सितम्बर, १९९६, पृ० ७.

यहाँ डॉ० सुदीप जैन ने दो बातें उठायी हैं, प्रथम शौरसेनी आगम-साहित्य की भाषिक एकरूपता की और दूसरी ‘ण’कार और ‘न’कार की। क्या सुदीपजी, आपने शौरसेनी आगम साहित्य के उपलब्ध संस्करणों का भाषाशास्त्र की दृष्टि से कोई प्रामाणिक अध्ययन किया है? यदि आपने किया होता तो आप ऐसा खोखला दावा प्रस्तुत नहीं करते? आप केवल णकार का ही उदाहरण क्यों देते हैं, वह तो महाराष्ट्री और शौरसेनी दोनों में सामान्य हैं। दूसरे शब्द-रूपों की चर्चा क्यों नहीं करते हैं? नीचे मैं दिगम्बर शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों से ही कुछ उदाहरण दे रहा हूँ, जिनसे उनके भाषिकतत्त्व की एकरूपता का दावा कितना खोखला है, यह सिद्ध हो जाता है। मात्र यही नहीं इससे यह भी सिद्ध होता है कि शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थ न केवल अर्धमागधी से प्रभावित है, अपितु उससे परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत से भी प्रभावित हैं—

१. आत्मा के लिये अर्धमागधी में आता, अत्ता, अप्पा आदि शब्द रूपों के प्रयोग उपलब्ध हैं, जबकि शौरसेनी में घोषीकरण के कारण “आता” का “आदा” रूप बनाता है। ‘समयसार’ में “आदा” के साथ-साथ “अप्पा” शब्द-रूप, जो कि अर्धमागधी का है, अनेक बार प्रयोग में आया है, केवल ‘समयसार’ में ही

नहीं अपितु 'नियमसार' (१२०, १२१, १८३) आदि में भी "अप्पा" शब्द का प्रयोग है।

२. श्रुत का शौरसेनी रूप "सुद" बनता है। शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर "सुदकेवली" शब्द के प्रयोग भी हुए हैं, जबकि 'समयसार' (वर्णी ग्रन्थमाला) गाथा ९ एवं १० में स्पष्ट रूप से "सुयकेवली", "सुयणाण" शब्दरूपों का भी प्रयोग मिलता है जबकि ये दोनों महाराष्ट्री शब्द-रूप हैं और परवर्ती भी हैं। अर्धमागधी में तो सदैव 'सुत' शब्द का प्रयोग होता है।
३. शौरसेनी में मध्यवर्ती असंयुक्त "त्" का "द्" होता है साथ ही उसमें "लोप" की प्रवृत्ति अत्यल्प है, अतः उसके क्रिया रूप "हवदि, होदि, कुणदि, गिणहदि कुण्वदि, परिणमदि, भण्णदि, पस्सदि आदि बनते हैं, इन क्रिया-रूपों का प्रयोग उन ग्रन्थों में हुआ भी है; किन्तु उन्हीं ग्रन्थों के क्रिया-रूपों पर महाराष्ट्री प्राकृत का कितना व्यापक प्रभाव है, इसे निम्न उदाहरणों से जाना जा सकता है—

'समयसार' वर्णी ग्रन्थमाला (वाराणसी)-

जाणइ (१०), हवई (११, ३१५, ३८४, ३८६), मुणइ (३२), वुच्चइ (४५), कुच्चइ (८१, २८६, ३१९, ३२१, ३२५, ३४०), परिणमइ (७६, ७९, ८०), (ज्ञातव्य है कि 'समयसार' के इसी संस्करण की गाथा क्रमांक ७७, ७८, ७९ में परिणमदि रूप भी मिलता है) इसी प्रकार के अन्य महाराष्ट्री प्राकृत के रूप जैसे वेयई (८४), कुणई (७१, ९६, २८९, २९३, ३२२, ३२६), होइ (९४, १९७, ३०६, ३४९, ३५८), करेई (९४, २३७, २३८, ३२८, ३४८), हवई (१४१, ३२६, ३२९), जाणई (१८५, ३१६, ३१९, ३२०, ३६१), बहइ (१८९), सेवइ (१९७), मरइ (२५७, २९०), (जबकि गाथा २५८ में मरदि है), पावइ (२९१, २९२), घिप्पइ (२९६), उप्पज्जइ (३०८), विणस्सइ (३१२, ३४५), दीसइ (३२३) आदि भी मिलते हैं। ये तो कुछ ही उदाहरण हैं। ऐसे अनेको महाराष्ट्री प्राकृत के क्रिया-रूप समयसार में उपलब्ध हैं। न केवल 'समयसार' अपितु 'नियमसार', 'पञ्चास्तिकायसार', 'प्रवचनसार' आदि की भी यही स्थिति है।

बारहवीं शती में रचित वसुनन्दीकृत 'श्रावकाचार' (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण) की स्थिति तो कुन्दकुन्द के इन ग्रन्थों से भी बदतर है, उसकी प्रारम्भ की सौ गाथाओं के ४० प्रतिशत क्रिया रूप महाराष्ट्री प्राकृत के हैं।

इससे फलित यह होता है कि तथाकथित शौरसेनी आगमों के भाषागत स्वरूप में तो अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा भी न केवल वैविध्य है, अपितु उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का भी व्यापक प्रभाव है, जिसे सुदीपजी शौरसेनी से परवर्ती मान रहे हैं। यदि ये ग्रन्थ प्राचीन होते तो, इन पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री का प्रभाव कहाँ से आता?

प्रो० ए०एम० उपाध्ये ने प्रवचनसार की भूमिका में स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि उसकी भाषा पर अर्धमागधी का प्रभाव है। प्रो० खड़बड़ी ने तो 'षट्खण्डागम' की भाषा को भी शुद्ध शौरसेनी नहीं माना है।

'न'कार और 'ण'कार में कौन प्राचीन?

अब हम णकार और नकार के प्रश्न पर आते हैं। भाई सुदीपजी, आपका यह कथन सत्य है कि अर्धमागधी में नकार और णकार दोनों पाये जाते हैं; किन्तु दिगम्बर शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में सर्वत्र णकार का पाया जाना यही सिद्ध करता है कि जिस शौरसेनी को आप अरिष्टनेमी के काल से प्रचलित प्राचीनतम प्राकृत कहना चाहते हैं, उस णकार प्रधान शौरसेनी का जन्म तो ईसा की तीसरी शताब्दी तक हुआ भी नहीं था। 'ण' की अपेक्षा 'न' का प्रयोग प्राचीन है। ई०पू० तृतीय शती के अशोक के अभिलेख एवं ई०पू० द्वितीय शती के खारवेल के शिलालेख से लेकर मथुरा के शिलालेख (ई०पू० दूसरी शती से ईसा की दूसरी शती तक)– इन लगभग ८० जैन शिलालेखों में दन्त्य नकार के स्थान पर एक भी णकार का प्रयोग नहीं है। इनमें शौरसेनी प्राकृत के रूपों यथा "णमो", "अरिहंताणं" और "णमो वद्धमाणं" का सर्वथा अभाव है। यहाँ हम केवल उन्हीं प्राचीन शिलालेखों को उद्धृत कर रहे हैं, जिनमें इन शब्दों का प्रयोग हुआ है— ज्ञातव्य है कि ये सभी अभिलेखीय साक्ष्य जैन शिलालेख संग्रह, भाग-२ से प्रस्तुत हैं, जो दिगम्बर जैन समाज द्वारा ही प्रकाशित हैं—

१. हाथीगुम्फा उड़ीसा का शिलालेख- प्राकृत, जैन सम्राट् खारवेल, मौर्यकाल १६५वां वर्ष, पृ०-४, लेख-क्रमांक २, 'नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं'
२. वैकुण्ठ स्वर्गपुरी गुफा, उदयगिरि, उड़ीसा-प्राकृत, मौर्यकाल १६५वां वर्ष लगभग ई०पू० दूसरी शती, पृ०-११, ले०क्र०-३, 'अरहन्तपसादन'
३. मथुरा, प्राकृत, महाक्षत्रप शोडाशके, ८१ वर्ष का पृ०-१२, क्रमांक-५, 'नम अहरतो वधमानस'
४. मथुरा, प्राकृत, काल निर्देश नहीं दिया है; किन्तु जे०एफ० फ्लीट के अनुसार लगभग १३-१४ ई० पूर्व प्रथम शती का होना चाहिए। पृ०-१५, क्रमांक-९, 'नमोअरहतो वधमानस्य'
५. मथुरा, प्राकृत, सम्भवतः १३-१४ ई०पू० प्रथम शती पृ०-१५ लेख क्रमांक १०, 'मा अरहतपूजा (ये)'
६. मथुरा, प्राकृत, पृ०-१७, क्रमांक-१४, 'मा अहरतानं (अरहंतानं) श्रमण-श्राविका (य)
७. मथुरा, प्राकृत, पृ०-१७, क्रमांक-१५, 'नमो अरहंतानं'

८. मथुरा, प्राकृत, पृ०-१८, क्रमांक-१६, 'नमो अरहतो महाविरस'
९. मथुरा, प्राकृत, हुविष्क संवत् ३९- हस्तिस्तम्भ पृ०-३४, क्रमांक ४३, 'अर्य्येन रुद्रदासेन' अरहंतनं पुजाये।
१०. मथुरा, प्राकृत, भग्न, वर्ष ९३, पृ०-४६, क्रमांक-६७, 'नमो अर्हतो महाविरस्य'
११. मथुरा, प्राकृत, वासुदेव सं०-९८, पृ०-४७, क्रमांक-६०, 'नमो अरहतो महावीरस्य'
१२. मथुरा, प्राकृत, पृ०-४८ ९ (बिना काल निर्देश) क्रमांक ७१, 'नमो अरहंतानं सिंहकस'
१३. मथुरा, प्राकृत, भग्न (बिना काल निर्देश) पृ०-४८, क्रमांक-७२, 'नमो अरहंताना'
१४. मथुरा, प्राकृत, भग्न (बिना काल निर्देश) पृ०-४८, क्रमांक-७३ 'नमो अरहंतान'
१५. मथुरा, प्राकृत, भग्न (बिना काल निर्देश), पृ०-४९, क्रमांक-७५, 'अरहंतान वधमानस्य'
१६. मथुरा, प्राकृत, भग्न, पृ०-५१, क्रमांक-८०, 'नमो अरहंताण...'

शूरसेन प्रदेश, जहाँ से शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ, वहाँ के शिलालेखों में दूसरी, तीसरी शती तक 'नकार' के स्थान पर 'णकार' एवं मध्यवर्ती असंयुक्त 'त' के स्थान पर 'द' के प्रयोग का अभाव यही सिद्ध करता है कि दिगम्बर आगमों एवं नाटकों की शौरसेनी का जन्म ईसा की दूसरी शती के पूर्व का नहीं है, जबकि 'नकार' प्रधान अर्धमागधी का चलन तो अशोक के अभिलेखों से अर्थात् ई०पू० तीसरी शती से सिद्ध होता है। इससे यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम प्राचीन हैं, आगमों का शब्द-रूपान्तरण अर्धमागधी से शौरसेनी में हुआ है न कि शौरसेनी से अर्धमागधी में हुआ है। दिगम्बर मान्य आगमों की वह शौरसेनी जिसकी प्राचीनता का बड़-चढ़ कर दावा किया जाता है, वह अर्धमागधी और महाराष्ट्री दोनों से ही प्रभावित है और न केवल भाषायी स्वरूप के आधार पर परन्तु अपनी विषयवस्तु के आधार पर भी ईसा की चौथी-पांचवी शती के पूर्व की नहीं है।

यदि शौरसेनी प्राचीनतम प्राकृत है, तो फिर सम्पूर्ण देश में ईसा की तीसरी-चौथी शती तक का एक भी अभिलेख शौरसेनी प्राकृत में क्यों नहीं मिलता है? अशोक के अभिलेख, खारवेल के अभिलेख, बडली का अभिलेख और मथुरा के शताधिक

अभिलेख कोई भी तो शौरसेनी प्राकृत में नहीं है। इन सभी अभिलेखों की भाषा क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी ही है। अतः उसे अर्धमागधी तो कहा जा सकता है; किन्तु शौरसेनी कदापि नहीं कहा जा सकता है। अतः प्राकृतों में अर्धमागधी ही प्राचीन है, क्योंकि मथुरा के प्राचीन अभिलेखों में भी नमो अरहंतानं, नमो वधमानस आदि अर्धमागधी शब्द-रूप मिलते हैं। श्वेताम्बर आगमों एवं अभिलेखों में आये “अरहंतानं” पाठ को तो ‘प्राकृतविद्या’ में खोटे सिक्के की तरह बताया गया है, इसका अर्थ है कि यह पाठ शौरसेनी का नहीं है (प्राकृतविद्या, अक्टूबर-दिसम्बर, १९९४, पृ० १०-११) अतः शौरसेनी उसके बाद ही विकसित हुई है।

शौरसेनी आगम और उनकी प्राचीनता

जब हम आगम की बात करते हैं तो हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि ‘आचाराङ्ग’ आदि द्वादशाङ्गी जिन्हें श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय-परम्परा आगम कहकर उल्लेखित करती हैं, वे सभी मूलतः अर्धमागधी में निबद्ध हुए हैं। चाहे श्वेताम्बर-परम्परा में ‘नन्दीसूत्र’ में उल्लेखित आगम हों, चाहे ‘मूलाचार’, ‘भगवती आराधना’ और उनकी टीकाओं में या ‘तत्त्वार्थ’ और उसकी दिगम्बर टीकाओं में उल्लेखित आगम हों, अथवा ‘अंगपण्णति’ एवं ‘ध्वला’ के अंग और अंग बाह्य के रूप में उल्लेखित आगम हों, उनमें से एक भी ऐसा नहीं है, जो शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था। हाँ! इतना अवश्य है कि इनमें से कुछ के शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित संस्करण माथुरी वाचना के समय लगभग चतुर्थ शती में अस्तित्व में अवश्य आये थे; किन्तु इन्हें शौरसेनी आगम कहना उचित नहीं होगा। वस्तुतः ये ‘आचाराङ्ग’, ‘उत्तराध्ययन’, ‘दशवैकालिक’, ‘ऋषिभाषित’ आदि श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य आगमों के ही शौरसेनी संस्करण थे, जो यापनीय-परम्परा में मान्य थे और जिनके भाषिक स्वरूप और कुछ पाठ-भेदों को छोड़कर श्वेताम्बर मान्य आगमों से समरूपता थी। इनके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने “जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय” नामक ग्रन्थ के तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में की है। इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं।

वस्तुतः आज जिन्हें हम शौरसेनी आगम के नाम से जानते हैं उनमें मुख्यतः निम्न ग्रन्थ आते हैं—

अ. यापनीय आगम

१. कसायपाहुड, लगभग ईसा की चौथी शती, गुणधराचार्य-रचित।
२. षट्खण्डागम, ईसा की पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध, पुष्पदन्त और भूतबलि।
३. भगवती आराधना, ईसा की छठी शती, शिवार्य-रचित।
४. मूलाचार, ईसा की छठी शती, वट्टकेर-रचित।

ज्ञातव्य है कि ये सभी ग्रन्थ मूलतः यापनीय-परम्परा के रहे हैं और इनमें अनेकों गाथाएँ श्वेताम्बर मान्य आगमों, विशेषरूप से निर्युक्तियों और प्रकीर्णकों के समरूप हैं।

ब. कुन्दकुन्द, ईसा की पाँचवीं-छठी शती के लगभग के ग्रन्थ-

५. समयसार
६. नियमसार
७. प्रवचनसार
८. पञ्चास्तिकायसार
९. अष्टपाहुड (इसका कुन्दकुन्द द्वारा रचित होना सन्दिग्ध है, क्योंकि इसकी भाषा में अपभ्रंश के शताधिक प्रयोग मिलते हैं और इसका भाषा स्वरूप भी कुन्दकुन्द की भाषा से परवर्ती है)।

स. अन्य ग्रन्थ (ईसा की पाँचवीं-छठी शती के पश्चात्)-

१०. तिलोद्यपण्णत्ति-यत्तिवृषभ
११. लोकविभाग
१२. जम्बूदीपपण्णत्ति
१३. अंगपण्णत्ति
१४. क्षपणसार
१५. गोम्मटसार (दसवीं शती)

इनमें से 'कसायपाहुड' को छोड़कर कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो पाँचवीं शती के पूर्व का हो। ये सभी ग्रन्थ गुणस्थान सिद्धान्त एवं सप्तभंगी की चर्चा अवश्य करते हैं और गुणस्थान की चर्चा जैन दर्शन में पाँचवीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में अनुपस्थित है। श्वेताम्बर आगमों में 'समवायांग' और 'आवश्यकनिर्युक्ति' की दो प्रक्षिप्त गाथाओं को छोड़कर गुणस्थान की चर्चा पूर्णतः अनुपस्थित है, जबकि 'षट्खण्डागम', 'मूलाचार', 'भगवतीआराधना' आदि ग्रन्थों में और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इसकी चर्चा पायी जाती है, अतः ये सभी ग्रन्थ उनसे परवर्ती हैं। इसी प्रकार उमास्वाति के 'तत्त्वार्थसूत्र'-मूल और उसके स्वोपज्ञ भाष्य में भी गुणस्थान की चर्चा अनुपस्थित है, जबकि इसकी परवर्ती टीकाएँ गुणस्थान की विस्तृत चर्चाएँ प्रस्तुत करती हैं। उमास्वाति का काल तीसरी-चौथी शती के लगभग है। अतः यह निश्चित है कि गुणस्थान का सिद्धान्त पाँचवीं शती में अस्तित्व में आया है। अतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध कोई भी ग्रन्थ, जो गुणस्थान का उल्लेख कर रहा है, ईसा की पाँचवीं शती के पूर्व का नहीं हो सकता। प्राचीन शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में मात्र 'कसायपाहुड' ही ऐसा है, जो स्पष्टतः

गुणस्थानों का उल्लेख नहीं करता है; किन्तु उसमें भी प्रकारान्तर से १२ गुणस्थानों की चर्चा उपलब्ध है, अतः वह भी आध्यात्मिक विकास की उन दस अवस्थाओं, जिनका उल्लेख 'आचारङ्गनिर्युक्ति' और 'तत्त्वार्थसूत्र' में है, से परवर्ती और गुणस्थान सिद्धान्त के विकास के संक्रमणकाल की रचना है, अतः उसका काल भी चौथी से पाँचवीं शती के बीच सिद्ध होता है।

शौरसेनी की प्राचीनता का दावा, कितना खोखला

शौरसेनी की प्राचीनता का गुणगान इस आधार पर भी किया जाता है कि यह नारायण कृष्ण और तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि की मातृभाषा रही है, क्योंकि इन दोनों महापुरुषों का जन्म शूरसेन में हुआ था और ये शौरसेनी प्राकृत में ही अपना वाक्-व्यवहार करते थे। डॉ० सुदीपजी के शब्दों में "इन दोनों महापुरुषों के प्रभावक व्यक्तित्व के महाप्रभाव से शूरसेन जनपद में जन्मी शौरसेनी प्राकृत भाषा को सम्पूर्ण आर्यावर्त में प्रसारित होने का सुअवसर मिला था।" (प्राकृतविद्या, जुलाई-सितम्बर १९९६, पृ०-६)।

यदि हम एक बार उनके इस कथन को मान भी ले, तो प्रश्न यह उठता है कि अरिष्टनेमि के पूर्व नमि मिथिला में जन्मे थे, वासुपूज्य चम्पा में जन्मे थे, सुपार्थ, चन्द्रप्रभ और श्रेयांस काशी जनपद में जन्मे थे, यही नहीं प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव और मर्यादा पुरुषोत्तम राम अयोध्या में जन्मे थे। यह सभी क्षेत्र तो मगध का ही निकटवर्ती क्षेत्र है, अतः इनकी मातृभाषा तो अर्धमागधी रही होगी या और कोई दूसरी भाषा। भाई सुदीपजी के अनुसार यदि शौरसेनी, अरिष्टनेमि जितनी प्राचीन है, तो फिर अर्धमागधी तो ऋषभ जितनी प्राचीन सिद्ध होती है, अतः शौरसेनी से अर्धमागधी प्राचीन ही साबित होती है।

यदि शौरसेनी प्राचीन होती तो सभी प्राचीन अभिलेख और प्राचीन आगमिक ग्रन्थ शौरसेनी में मिलते; किन्तु ईसा की चौथी-पाँचवीं शती से पूर्व का कोई भी जैन ग्रन्थ और अभिलेख शौरसेनी में उपलब्ध क्यों नहीं होता है? पुनः नाटकों में भी भास के समय से अर्थात् ईसा की दूसरी शती से ही शौरसेनी के प्रयोग (वाक्यांश) उपलब्ध होते हैं।

जब नाटकों में शौरसेनी प्राकृत की उपलब्धता के आधार पर उसकी प्राचीनता का गुणगान किया जाता है तब मैं विनम्रतापूर्वक पूछना चाहूँगा कि क्या इन उपलब्ध नाटकों में कोई भी नाटक ईसा की दूसरी-तीसरी शती से पूर्व का है? यदि नहीं तो फिर उन्हें शौरसेनी की प्राचीनता का आधार कैसे माना जा सकता है? मात्र नाटक ही नहीं, वे शौरसेनी प्राकृत का एक भी ऐसा ग्रन्थ या अभिलेख दिखा दें, जो अर्धमागधी आगमों और मागधी प्रधान अशोक, खारखेल आदि के अभिलेखों से प्राचीन हो। अर्धमागधी के अतिरिक्त जिस महाराष्ट्री प्राकृत को वे शौरसेनी से परवर्ती बता रहे हैं,

उसमें हाल की 'गाथासप्तशती' ई०सन् की लगभग प्रारम्भिक शतियों में रचित है और शौरसेनी के किसी भी ग्रन्थ से वह लगभग प्राचीन है।

पुनः मैं डॉ० सुदीपजी के निम्न कथन की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहूँगा— वे प्राकृतविद्या, जुलाई-सितम्बर १९९६ में लिखते हैं कि दिगम्बरों के ग्रन्थ उस शौरसेनी प्राकृत में हैं, जिससे 'मागधी' आदि प्राकृतों का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध में मेरा उनसे निवेदन है कि मागधी के सम्बन्ध में 'प्रकृतिः शौरसेनी' (प्राकृत प्रकाश, ११/२) इस कथन की वे जो व्याख्या कर रहे हैं, वह भ्रान्तिपूर्ण है और वे स्वयं भी शौरसेनी के सम्बन्ध में 'प्रकृतिः संस्कृतम्' (-प्राकृत प्रकाश १२/२) इस सूत्र की व्याख्या में 'प्रकृतिः' का 'जन्मदात्री'- ऐसा अर्थ अस्वीकार कर चुके हैं। इसकी विस्तृत समीक्षा हमने अग्रिम पृष्ठों में की है। इसके प्रत्युत्तर में मेरा दूसरा तर्क यह है कि यदि शौरसेनी के ग्रन्थों के आधार पर ही मागधी के प्राकृत आगमों की रचना हुई हो तो उनमें किसी भी शौरसेनी प्राकृत के ग्रन्थ का उल्लेख क्यों नहीं है? श्वेताम्बर आगमों में वे एक भी सन्दर्भ दिखा दें जिनमें 'भगवती-आराधना', 'मूलाचार', 'षट्खण्डागम', 'तिलोयपण्णत्ति', 'प्रवचनसार', 'समयसार', 'नियमसार' आदि का उल्लेख हुआ हो। टीकाओं में भी मलयगिरि (तेरहवीं शती) ने मात्र 'समयपाहुड' का उल्लेख किया है, इसके विपरीत 'मूलाचार', 'भगवती-आराधना' और 'षट्खण्डागम' की टीकाओं में एवं 'तत्त्वार्थसूत्र' की 'सर्वार्थसिद्धि', 'राजवार्तिक', 'श्लोकवार्तिक' आदि सभी दिगम्बर टीकाओं में (श्वेताम्बर अर्धमागधी) आगमों एवं निर्युक्तियों के उल्लेख मिलते हैं। 'भगवती-आराधना' की टीका में तो 'आचाराङ्ग', 'उत्तराध्ययन', 'कल्पसूत्र' तथा 'निशीथसूत्र' से अनेक अवतरण भी दिये गये हैं। 'मूलाचार' में न केवल अर्धमागधी आगमों का उल्लेख है, अपितु उनकी सैकड़ों गाथाएँ भी हैं। 'मूलाचार' में 'आवश्यकनिर्युक्ति', 'आतुरप्रत्याख्यान', 'महाप्रत्याख्यान', 'चन्द्रवेध्यक', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' आदि की अनेक गाथाएँ अपने शौरसेनी शब्द-रूपों में यथावत् पायी जाती हैं।*

दिगम्बर-परम्परा में जो प्रतिकमणसूत्र उपलब्ध है, उसमें 'ज्ञातासूत्र' के उन्हीं १९ अध्ययनों के नाम मिलते हैं, जो वर्तमान में श्वेताम्बर-परम्परा के 'ज्ञाताधर्मकथा' में उपलब्ध हैं। तार्किक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि जो ग्रन्थ जिन-जिन ग्रन्थों का उल्लेख करता है, वह उनसे परवर्ती ही होता है, पूर्ववर्ती कदापि नहीं। शौरसेनी-आगम या

*. इस सम्बन्ध में मैंने जो अध्ययन किया है उसके आधार पर यह भी पूर्णतः सम्भावित है कि ऐसे श्वेताम्बर और दिगम्बर रचनाओं की गाथाओं के मूल में एक ही प्राचीन समान आधार रहा होगा और दोनों परम्पराओं में उनका भाषिक स्वरूप अपने-अपने ढंग से बदल गया होगा। प्रो० डॉ० ए०एन० उपाध्ये का भी यही अभिप्राय है। -के०आर० चन्द्र

आगमतुल्य ग्रन्थों में यदि अर्धमागधी आगमों के नाम मिलते हैं तो फिर शौरसेनी और उस भाषा में रचित साहित्य अर्धमागधी आगमों से प्राचीन कैसे हो सकता है?

आदरणीय टाँटियाजी के माध्यम से यह बात भी उठायी गयी कि मूलतः आगम शौरसेनी में रचित थे और कालान्तर में उनका अर्धमागधीकरण (महाराष्ट्रीकरण) किया गया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि महावीर के संघ का उद्भव मगधदेश में हुआ और वहीं से वह दक्षिणी एवं उत्तर-पश्चिमी भारत में फैला। अतः आवश्यकता हुई अर्धमागधी आगमों के शौरसेनी और महाराष्ट्री रूपान्तरण की, न कि शौरसेनी आगमों के अर्धमागधी रूपान्तरण की। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी या महाराष्ट्री में रूपान्तरित हुए, न कि शौरसेनी आगम अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए, अतः ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना द्वारा मात्र तथ्यहीन तर्क करना कहाँ तक उचित होगा?

बुद्ध-वचनों की मूल भाषा मागधी थी, न कि शौरसेनी

शौरसेनी को मूल भाषा एवं मागधी से प्राचीन सिद्ध करने हेतु आदरणीय प्रो० नथमल टाँटियाजी के नाम से यह भी प्रचारित किया जा रहा है कि “शौरसेनी पालि भाषा की जननी है, यह मेरा स्पष्ट चिन्तन है। पहले बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे जिनको जला दिया गया और फिर पालि में लिखा गया।” —प्राकृतविद्या, जुलाई-सितम्बर १९९६, पृ० १०।

टाँटियाजी जैसा बौद्धविद्या का प्रकाण्ड विद्वान् ऐसी कपोल-कल्पित बात कैसे कह सकता है? यह विचारणीय है। क्या ऐसा कोई भी अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है? जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल बुद्ध-वचन शौरसेनी में थे। यदि ऐसा हो तो आदरणीय टाँटियाजी या भाई सुदीपजी उसे प्रस्तुत करें अन्यथा ऐसी आधारहीन बातें करना विद्वानों के लिये शोभनीय नहीं है।

यह बात तो बौद्ध विद्वान् स्वीकार करते हैं कि मूल बुद्ध-वचन ‘मागधी’ में थे और कालान्तर में उनकी भाषा को संस्कारित करके पालि में लिखा गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार मागधी और अर्धमागधी में किञ्चित् अन्तर है, उसी प्रकार ‘मागधी’ और ‘पालि’ में भी किञ्चित् अन्तर है, वस्तुतः तो पालि भगवान् बुद्ध की मूल भाषा ‘मागधी’ का एक संस्कारित रूप ही है, यही कारण है कि कुछ विद्वान् पालि को मागधी का ही एक प्रकार मानते हैं, दोनों में बहुत अन्तर नहीं है। पालि भाषा संस्कृत और मागधी की मध्यवर्ती भाषा है या मागधी का ही एक साहित्यिक रूप है। यह तो प्रमाण सिद्ध है कि भगवान् बुद्ध ने मागधी में ही अपने उपदेश दिये थे, क्योंकि उनकी जन्मस्थली और कार्यस्थली दोनों मगध और उसका निकटवर्ती प्रदेश ही था। बौद्ध विद्वानों का स्पष्ट मन्तव्य है कि मागधी ही बुद्ध-वचन की मूल भाषा है। इस सम्बन्ध

में बुद्धघोष का निम्न कथन सबसे बड़ा प्रमाण है—

सा मागधी मूलभाषा नरायाय आदिकप्पिका।

ब्रह्मणी च अस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे।।

अर्थात् मागधी ही मूल भाषा है, जो सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुई थी और न केवल ब्रह्मा (देवता) अपितु बालक और बुद्ध (संबुद्ध महापुरुष) भी इसी भाषा में बोलते हैं (See- The preface to the Childer's Pali Dictionary)।

इससे यही फलित होता है कि मूल बुद्ध-वचन मागधी प्राकृत भाषा में थे। पालि उसी मागधी का संस्कारित साहित्यिक रूप है, जिसमें कालान्तर में बुद्ध-वचन लिखे गये। वस्तुतः पालि के रूप में मागधी का एक ऐसा संस्करण तैयार किया गया, जिसे संस्कृत के विद्वान् और भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोग भी आसानी से समझ सके। अतः बुद्ध-वचन मूलतः मागधी में थे, न कि शौरसेनी में। बौद्ध त्रिपिटक की पालि और जैन आगमों की अर्धमागधी में कितना साम्य है, यह तो 'सुत्तनिपात' और 'इसिभासियाई' के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन पालि ग्रन्थों की एवं प्राचीन अर्धमागधी आगमों की भाषा में अधिक दूरी नहीं है। जिस समय अर्धमागधी और पालि में ग्रन्थ रचना हो रही थी, उस समय तक शौरसेनी एक बोली थी, न कि एक साहित्यिक भाषा। साहित्यिक भाषा के रूप में उसका जन्म तो ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद ही हुआ है। संस्कृत के पश्चात् सर्वप्रथम साहित्यिक भाषा के रूप में यदि कोई भाषा विकसित हुई है तो वे अर्धमागधी एवं पालि ही हैं, न कि शौरसेनी। शौरसेनी का कोई भी ग्रन्थ या नाटकों के अंश ईसा की दूसरी-तीसरी शती से पूर्व का नहीं है जबकि पालि त्रिपिटक और अर्धमागधी आगम साहित्य के अनेक ग्रन्थ ई०पू० तीसरी-चौथी शती में निर्मित हो चुके थे।

'प्रकृतिः शौरसेनी' का सम्यक् अर्थ

जो विद्वान् मागधी या अर्धमागधी को शौरसेनी से परवर्ती एवं उसी से विकसित मानते हैं वे अपने कथन का आधार वररुचि (लगभग ७वीं शती) के प्राकृत-प्रकाश और हेमचन्द्र (लगभग १२वीं शताब्दी) के प्राकृत-व्याकरण के निम्न सूत्रों को बनाते हैं—

- अ. १. प्रकृतिः शौरसेनी (१०/२)
अस्याः पैशाच्याः प्रकृतिः शौरसेनी। स्थितायां शौरसेन्यां पैशाची-लक्षणं प्रवर्तित्तव्यम्।
२. प्रकृतिः शौरसेनी (११/२)
अस्याः मागध्याः प्रकृतिः शौरसेनीति वेदीतव्यम्।

-वररुचिकृत 'प्राकृतप्रकाश'

- ब. १. शेषं शौरसेनीवत् (८/४/३०२)
मागध्यां यदुक्तं, ततो अन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम्।
२. शेषं शौरसेनीवत् (८/४/३२३)
पैशाच्यां यदुक्तं, ततो अन्यच्छेषं पैशाच्यां शौरसेनीवद् भवति।
३. शौरसेनीवत् (८/४/४४६)
अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति।
अपभ्रंशभाषायां प्रायः शौरसेनीभाषातुल्यं कार्यं जायते; शौरसेनी-
भाषायाः ये नियमाः सन्ति तेषां प्रवृत्तिरपभ्रंशभाषायामपि जायते।
-हेमचन्द्रकृत 'प्राकृत व्याकरण'

अतः इस प्रसंग में यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम इन सूत्रों में 'प्रकृति' शब्द का वास्तविक तात्पर्य क्या है, इसे समझें। यदि हम यहाँ प्रकृति का अर्थ उद्भव का कारण मानते हैं, तो निश्चित ही इन सूत्रों से यह फलित होता है कि मागधी या पैशाची का उद्भव शौरसेनी से हुआ; किन्तु शौरसेनी को एकमात्र प्राचीन भाषा मानने वाले तथा मागधी और पैशाची को उससे उद्भूत मानने वाले ये विद्वान् वररुचि के उस सूत्र को भी उद्धृत क्यों नहीं करते, जिसमें शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत बतायी गयी है, यथा- "शौरसेनी- १२/१, टीका- शूरसेनानां भाषा शौरसेनी सा च लक्ष्य-लक्षणाभ्यां स्फुटीक्रियते इत्यवगन्तव्यम्। अधिकारसूत्रमेतदापरिच्छेद समाप्तेः १२/१ प्रकृतिः संस्कृतम्- १२/२; टीका- शौरसेन्यां ये शब्दास्तेषां प्रकृतिः संस्कृतम्। -प्राकृतप्रकाश (१२/२)" अतः उक्त सूत्र के आधार पर हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि शौरसेनी प्राकृत संस्कृत भाषा से उत्पन्न हुई है। इस प्रकार 'प्रकृति' का अर्थ उद्गम स्थल करने पर उसी 'प्राकृत-प्रकाश' के आधार पर यह भी मानना होगा कि मूल भाषा संस्कृत थी और उसी में से शौरसेनी उत्पन्न हुई। क्या शौरसेनी के पक्षधर इस सत्य को स्वीकार करने को तैयार हैं? भाई सुदीपजी, जो शौरसेनी के पक्षधर हैं और 'प्रकृतिः शौरसेनी' के आधार पर मागधी को शौरसेनी से उत्पन्न बताते हैं, वे स्वयं भी 'प्रकृतिः संस्कृतम् -प्राकृत-प्रकाश, १२/२' के आधार पर यह मानने को तैयार क्यों नहीं कि 'प्रकृति' का अर्थ उससे उत्पन्न हुई, ऐसा है। वे स्वयं लिखते हैं "आज जितने भी प्राकृत व्याकरणशास्त्र उपलब्ध है, वे सभी संस्कृत भाषा में हैं एवं संस्कृत व्याकरण के मॉडल पर निर्मित हैं। अतएव उनमें 'प्रकृतिः संस्कृतम्' जैसे प्रयोग देखकर कतिपय जन ऐसा भ्रम करने लगते हैं कि प्राकृत भाषा संस्कृत भाषा से उत्पन्न हुई हो- ऐसा अर्थ कदापि नहीं है— **प्राकृतविद्या**, जुलाई-सितम्बर १९९६, पृ० १४। भाई सुदीपजी जब शौरसेनी की बारी आती है, तब आप 'प्रकृति' का अर्थ 'आधार/मॉडल' करें और जब मागधी का प्रश्न आये तब आप 'प्रकृतिः शौरसेनी' का अर्थ मागधी शौरसेनी से उत्पन्न हुई, ऐसा करें— यह दोहरा मापदण्ड क्यों? क्या केवल शौरसेनी को प्राचीन और

मागधी को अर्वाचीन बताने के लिये। वस्तुतः प्राकृत और संस्कृत शब्द स्वयं ही इस बात के प्रमाण हैं कि उनमें मूलभाषा कौन-सी है?”

संस्कृत शब्द स्वयं ही इस बात का सूचक है कि संस्कृत स्वाभाविक या मूल भाषा न होकर एक संस्कारित कृत्रिम भाषा है। प्राकृत शब्दों एवं शब्द-रूपों का व्याकरण द्वारा संस्कार करके जो भाषा निर्मित होती है उसे ही संस्कृत कहा जा सकता है और जिसे संस्कारित न किया गया हो वह संस्कृत कैसे होगा? वस्तुतः प्राकृत स्वाभाविक या सहज बोली है और उसी को संस्कारित करके संस्कृत भाषा निर्मित हुई है। इस दृष्टि से प्राकृत मूल भाषा है और संस्कृत उससे उद्भूत हुई है।

हेमचन्द्राचार्य के पूर्व नमिसाधु ने रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' की टीका में प्राकृत और संस्कृत शब्द का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं—

सकलजगज्जन्तुनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। आरिसवयणे सिद्धं, देवाणां अद्धमागहा वाणी इत्यादि, वचनाद्वा प्राक् पूर्वकृतं प्राकृतम्, बालमहिलादिसुबोध-सकलभाषा-निन्धनभूत-वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कार-करणात् च समासादित-विशेषं सत् संस्कृतादुत्तरभेदोनाम्नोति। —काव्यालङ्कार टीका, नमिसाधु २/१२

अर्थात् जो संसार के प्राणियों का व्याकरण आदि के संस्कार से रहित सहज वचन व्यापार है, उससे निःसृत भाषा प्राकृत है, जो बालक, महिला आदि के लिये भी सुबोध है और पूर्व में निर्मित होने से (प्राक् कृत) सभी भाषाओं की रचना का आधार है वह तो मेघ से निर्मुक्त जल की तरह सहज है, उसी का देश-प्रदेश के आधार पर किया गया संस्कारित रूप संस्कृत और उसके विभिन्न भेद अर्थात् विभिन्न साहित्यिक प्राकृतें हैं। सत्य यह है कि बोली के रूप में तो प्राकृतें ही प्राचीन हैं और संस्कृत उनका संस्कारित रूप है, वस्तुतः संस्कृत विभिन्न प्राकृत बोलियों के बीच सेतु का काम करने वाली एक सामान्य साहित्यिक भाषा के रूप में अस्तित्व में आयी।

यदि हम भाषा-विकास की दृष्टि से इस प्रश्न पर चर्चा करें तो भी यह स्पष्ट है कि संस्कृत सुपरिमार्जित, सुव्यवस्थित और व्याकरण के आधार पर सुनिबद्ध भाषा है। यदि हम यह मानते हैं कि संस्कृत से प्राकृतें निर्मित हुई हैं, तो हमें यह भी मानना होगा कि मानवजाति अपने आदिकाल में व्याकरणशास्त्र के नियमों से संस्कारित संस्कृत भाषा बोलती थी और उसी से वह अपभ्रष्ट होकर शौरसेनी और शौरसेनी से अपभ्रष्ट होकर मागधी, पैशाची, अपभ्रंश आदि भाषाएँ निर्मित हुईं। इसका अर्थ यह भी होगा कि मानव जाति की मूल भाषा अर्थात् संस्कृत से अपभ्रष्ट होते-होते ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ; किन्तु मानव जाति और मानवीय संस्कृति के विकास का वैज्ञानिक इतिहास इस बात को कभी भी स्वीकार नहीं करेगा।

वह तो यही मानता है कि मानवीय बोलियों के संस्कार द्वारा ही विभिन्न साहित्यिक भाषाएँ अस्तित्व में आईं अर्थात् विभिन्न बोलियों से ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ है। वस्तुतः इस विवाद के मूल में साहित्यिक भाषा और लोकभाषा अर्थात् बोली के अन्तर को नहीं समझ पाना है। वस्तुतः प्राकृते अपने मूल स्वरूप में भाषाएँ न हो कर बोलियाँ रही हैं यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राकृत कोई एक बोली नहीं, अपितु बोली-समूह का नाम है। जिस प्रकार प्रारम्भ में विभिन्न प्राकृतों अर्थात् बोलियों को संस्कारित करके एक सामान्य वैदिक भाषा का निर्माण हुआ, उसी प्रकार कालक्रम में विभिन्न बोलियों को अलग-अलग रूप में संस्कारित करके उनसे विभिन्न साहित्यिक प्राकृतों का निर्माण हुआ। अतः यह एक सुनिश्चित सत्य है कि बोली के रूप में प्राकृते मूल एवं प्राचीन हैं और उन्हीं से संस्कृत का विकास एक सर्वसाधारण (Common) भाषा के रूप में हुआ। प्राकृते बोलियाँ हैं और संस्कृत भाषा है। बोली को व्याकरण से संस्कारित करके एकरूपता देने से भाषा का विकास होता है। भाषा से बोली का विकास नहीं होता है। विभिन्न प्राकृत बोलियों को आगे चलकर व्याकरण के नियमों से संस्कारित किया गया तो उनसे विभिन्न सामान्यतः साहित्यिक प्राकृतों (भाषाओं का) का जन्म हुआ। जैसे मागधी बोली से मागधी प्राकृत का, शौरसेनी बोली से शौरसेनी प्राकृत का और महाराष्ट्र की बोली से महाराष्ट्री प्राकृत का विकास हुआ। प्राकृत के मागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि भेद तत्-तत् प्रदेशों की बोलियों से उत्पन्न हुए हैं, न कि किसी प्राकृत विशेष से। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कोई भी प्राकृत व्याकरण सातवीं शती से पूर्व का उपलब्ध नहीं है। साथ ही साथ उनमें प्रत्येक प्राकृत के लिये अलग-अलग मॉडल अपनाये गये हैं। वररुचि के लिये शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत है, जबकि हेमचन्द्र के लिये शौरसेनी की प्रकृति (महाराष्ट्री) प्राकृत है, अतः 'प्रकृति' का अर्थ आदर्श या मॉडल है। अन्यथा हेमचन्द्र के शौरसेनी के सम्बन्ध में 'शेषं प्राकृतवत्' (८/४/२८६) का अर्थ होगा शौरसेनी महाराष्ट्री से उत्पन्न हुई, जो शौरसेनी के पक्षधरों को कदापि मान्य नहीं होगा।

क्या अर्धमागधी आगम मूलतः शौरसेनी में थे?

प्राकृतविद्या, जनवरी-मार्च १९९६ के सम्पादकीय में डॉ० सुदीपजी जैन ने प्रो० टॉटिया को यह कहते हुए प्रस्तुत किया है कि "श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृतमय ही था, जिसका स्वरूप क्रमशः अर्धमागधी के रूप में बदल गया।" इस सन्दर्भ में हमारा प्रश्न यह है कि यदि प्राचीन श्वेताम्बर आगम साहित्य शौरसेनी प्राकृत में था तो फिर वर्तमान उपलब्ध पाठों में कहीं भी शौरसेनी की मुख्य विशेषता मध्यवर्ती असंयुक्त 'त्' के स्थान पर 'द्' का प्रभाव तो दिखायी देता। इसके विपरीत हम यह पाते हैं कि दिगम्बर-परम्परा में मान्य शौरसेनी आगम साहित्य पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत का व्यापक प्रभाव है और इस तथ्य की सप्रमाण चर्चा

हम पूर्व में कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में दिगम्बर-परम्परा के शीर्षस्थ विद्वान् प्रो० ए०एन० उपाध्ये का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि 'प्रवचनसार' की भाषा पर श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा का पर्याप्त प्रभाव है और अर्धमागधी भाषा की अनेक विशेषताएँ उत्तराधिकार के रूप में इस ग्रन्थ को प्राप्त हुई हैं। इसमें स्वर-परिवर्तन, मध्यवर्ती व्यञ्जनों के परिवर्तन 'य्' श्रुति इत्यादि अर्धमागधी भाषा के समान ही मिलते हैं। दूसरे वरिष्ठ दिगम्बर-परम्परा के विद्वान् प्रो० खडबडी का कहना है कि षट्खण्डागम की भाषा शुद्ध शौरसेनी नहीं है। इस प्रकार यहाँ एक ओर दिगम्बर विद्वान् इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर रहे हैं कि दिगम्बर आगमों पर श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा का प्रभाव है वहाँ पर यह कैसे माना जा सकता है कि श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए, अपितु इससे तो यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी में रूपान्तरित हुए हैं। पुनः अर्धमागधी भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में दिगम्बर विद्वानों में जो भ्रान्ति प्रचलित रही है उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। सम्भवतः ये विद्वान् अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अन्तर को स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाये हैं तथा सामान्यतः अर्धमागधी और महाराष्ट्री को पर्यायवाची मानकर ही चलते रहे हैं। यही कारण है कि डॉ० उपाध्ये जैसे विद्वान् भी 'य्' श्रुति को अर्धमागधी का लक्षण बताते हैं, जबकि वह मूलतः महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण है, न कि अर्धमागधी का। अर्धमागधी तो मध्यवर्ती 'त्' यथावत् रहता है।

यह सत्य है कि श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा में कालक्रम से परिवर्तन हुए हैं और उस पर महाराष्ट्री प्राकृत की 'य्' श्रुति का प्रभाव आया है; किन्तु यह मानना पूर्णतः मिथ्या है कि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरण हुआ है। वास्तविकता यह है कि अर्धमागधी आगम ही माथुरी और वल्लभी वाचनाओं के समय क्रमशः शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतों से प्रभावित हुए हैं।

टाँटियाजी जैसे विद्वान् इस प्रकार की मिथ्या धारणा को प्रतिपादित करें कि शौरसेनी आगम ही अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए हैं, यह विश्वसनीय नहीं लगता है। यदि टाँटियाजी का यह कथन कि 'पालि त्रिपिटक और अर्धमागधी आगम मूलतः शौरसेनी में थे और फिर पालि और अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए' यह यदि सत्य है तो उन्हें या सुदीपजी को इसके प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिए।

वस्तुतः जब किसी बोली को साहित्यिक भाषा का स्वरूप दिया जाता है, तो एकरूपता के लिये नियम या व्यवस्था आवश्यक होती है और ये नियम भाषा के व्याकरण के द्वारा बनाये जाते हैं। विभिन्न प्राकृतों को जब साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया तो उनके लिये भी व्याकरण के नियम आवश्यक हुए और ये व्याकरण के नियम मुख्यतः संस्कृत से गृहीत किये गये। जब व्याकरणशास्त्र में किसी भाषा की प्रकृति बतायी जाती है तब वहाँ तात्पर्य होता है कि उस भाषा के व्याकरण के नियमों का मूल आदर्श किस

भाषा के शब्दरूप माने गये हैं? उदाहरण के तौर पर जब हम शौरसेनी के व्याकरण की चर्चा करते हैं तो हम यह मानते हैं कि उसके व्याकरण का आदर्श, अपनी कुछ विशेषताओं को छोड़कर जिसकी चर्चा उस भाषा के व्याकरण में होती है, संस्कृत के शब्द-रूप है।

किसी भी भाषा का जन्म बोली के रूप में पहले होता फिर बोली से साहित्यिक भाषा का जन्म होता है, जब साहित्य भाषा बन जाती है तब उसके लिये व्याकरण के नियम बनाये जाते हैं और ये व्याकरण के नियम जिस भाषा के शब्द-रूपों के आधार पर उस भाषा के शब्द-रूपों को समझाते हैं। वे ही उसकी प्रकृति कहलाते हैं। यह सत्य है कि बोली का जन्म पहले होता है, व्याकरण उसके बाद बनता है। शौरसेनी अथवा प्राकृत की 'प्रकृति' संस्कृत मानने का अर्थ इतना ही है कि इन भाषाओं के जो भी व्याकरण बने हैं वे संस्कृत शब्द-रूपों के आधार पर बने हैं। यहाँ पर भी ज्ञातव्य है कि प्राकृत का कोई भी व्याकरण प्राकृत के लिखने या बोलने वालों के लिये नहीं बनाया गया, अपितु उनके लिये बनाया गया, जो संस्कृत में लिखते या बोलते थे। यदि हमें किसी संस्कृत के जानकार व्यक्ति को प्राकृत के शब्द या शब्दरूपों को समझाना हो तो तदर्थ उसका आधार संस्कृत को ही बनाना होगा और उसी के आधार पर यह समझाना होगा कि प्राकृत का कौन-सा शब्दरूप संस्कृत के किसी शब्द से कैसे निष्पन्न हुआ है?

इसलिए जो भी प्राकृत व्याकरण निर्मित किये गये वे अपरिहार्य रूप से संस्कृत शब्दों या शब्दरूपों को आधार मानकर प्राकृत शब्द या शब्द-रूपों की व्याख्या करते हैं और संस्कृत को प्राकृत की 'प्रकृति' कहने का इतना ही तात्पर्य है। इसी प्रकार जब मागधी, पेशाची या अपभ्रंश की 'प्रकृति' शौरसेनी को कहा जाता है तो उसका तात्पर्य यही होता है कि प्रस्तुत व्याकरण के नियमों में इन भाषाओं के शब्दरूपों को शौरसेनी शब्दों को आधार मानकर समझाया गया है। 'प्राकृतप्रकाश' की टीका में वररुचि ने स्पष्टतः लिखा है- शौरसेन्या ये शब्दास्तेषां प्रकृतिः संस्कृतम् (१२/२) अर्थात् शौरसेनी के जो शब्द हैं उनकी प्रकृति या आधार संस्कृत शब्द हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्राकृतों में तीन प्रकार के शब्दरूप मिलते हैं- तद्भव, तत्सम और देशज। देशज शब्द वे हैं जो किसी देश विशेष में किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त रहे हैं। इनके अर्थ की व्याख्या के लिये व्याकरण की कोई आवश्यकता नहीं होती है। तद्भव शब्द वे हैं जो संस्कृत शब्दों से निर्मित हैं। जबकि संस्कृत के समान शब्द तत्सम कहलाते हैं। संस्कृत व्याकरण में दो शब्द प्रसिद्ध हैं— प्रकृति और प्रत्यय। इनमें मूल शब्दरूप को प्रकृति कहा जाता है। मूल शब्द से जो शब्दरूप बना है वह तद्भव है। प्राकृत व्याकरण संस्कृत शब्द से प्राकृत का तद्भव शब्दरूप कैसे बना है, इसकी व्याख्या करता है। अतः यहाँ संस्कृत को 'प्रकृति' कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि तद्भव शब्दों के सन्दर्भ में संस्कृत शब्द को आदर्श मानकर या मॉडल मानकर

यह व्याकरण लिखा है। अतः प्रकृति का अर्थ आदर्श या मॉडल या आधार है। संस्कृत शब्दरूप को मॉडल/आदर्श मानना इसलिए आवश्यक था कि संस्कृत के जानकार विद्वानों को दृष्टि में रखकर या उनके लिये ही प्राकृत व्याकरण लिखे गये थे। जब डॉ० सुदीपजी शौरसेनी के सन्दर्भ में 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का अर्थ मॉडल या आदर्श करते हैं तो उन्हें मागधी, पेशाची आदि के सन्दर्भ में 'प्रकृतिः शौरसेनी' का अर्थ भी यही करना चाहिए कि शौरसेनी का मॉडल या आदर्श मानकर इनका व्याकरण लिखा है- इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि मागधी आदि प्राकृतों की उत्पत्ति शौरसेनी से हुई है। हेमचन्द्राचार्य ने महाराष्ट्री प्राकृत को आधार मानकर शौरसेनी, मागधी आदि प्राकृतों को समझाया है अतः इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि महाराष्ट्री प्राकृत प्राचीन है या महाराष्ट्री से मागधी, शौरसेनी आदि उत्पन्न हुई हैं।

प्राचीन कौन ? अर्धमागधी या शौरसेनी

इस सन्दर्भ में टाँटियाजी के नाम से यह भी प्रतिपादित किया गया है कि "यदि वर्तमान अर्धमागधी आगम साहित्य को ही मूल आगम साहित्य मानने पर जोर देंगे तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से १५०० वर्ष पहले अस्तित्व ही नहीं होने से इस स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को ही ५०० ई० से परवर्ती मानना पड़ेगा।" ज्ञातव्य है कि यहाँ महाराष्ट्री और अर्धमागधी के अन्तर को न समझते हुए एक भ्रान्ति को खड़ा किया गया है। सर्वप्रथम तो यह समझ लेना चाहिए कि आगमों के प्राचीन अर्धमागधी के 'त्' मध्यवर्ती प्रधान पाठ चूर्णियों और अनेक प्राचीन प्रतियों में आज भी मिल रहे हैं, उससे निःसन्देह यह सिद्ध होता है कि मूल अर्धमागधी में मध्यवर्ती 'त' रहता था और उसमें लोप की प्रवृत्ति नगण्य ही थी और यह अर्धमागधी भाषा शौरसेनी और महाराष्ट्री से प्राचीन भी है। यदि श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से महाराष्ट्री (जिसे दिग्म्बर विद्वान् भ्रान्ति से अर्धमागधी कह रहे हैं) में बदले गये तो फिर उनकी प्राचीन प्रतियों में मध्यवर्ती 'त' के स्थान पर 'द' कार प्रधान पाठ क्यों उपलब्ध नहीं हो रहे हैं जो शौरसेनी की विशेषता है। इस प्रसंग में डॉ० टाँटियाजी के नाम से यह भी कहा गया है कि आज भी 'आचाराङ्गसूत्र' आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है। मैं आदरणीय टाँटियाजी से और भाई सुदीपजी से साग्रह निवेदन करूँगा कि वे आचाराङ्ग, ऋषिभाषित, सूत्रकृताङ्ग आदि की किन्हीं भी प्राचीन प्रतियों में मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द' पाठ दिखला दें। प्राचीन प्रतियों में जो पाठ मिल रहे हैं, वे अर्धमागधी या आर्ष प्राकृत के हैं, न कि शौरसेनी के हैं। यह एक अलग बात है कि कुछ शब्दरूप आर्ष अर्धमागधी और शौरसेनी में समान रूप में मिलते हैं।

वस्तुतः इन प्राचीन प्रतियों में न तो मध्यवर्ती 'त्' का 'द' देखा जाता है और "न्" के स्थान पर "ण्" की प्रवृत्ति देखी जाती है, जिसे व्याकरण में शौरसेनी की

विशेषता कहा जाता है। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगमों का ही शौरसेनी रूपान्तरण हुआ है, न कि शौरसेनी आगमों का अर्धमागधी रूपान्तरण। यह सत्य है कि न केवल अर्धमागधी आगमों पर अपितु शौरसेनी के आगमतुल्य कुन्दकुन्द आदि के ग्रन्थों पर भी महाराष्ट्री की 'य्' श्रुति का स्पष्ट प्रभाव है जिसे हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं।

क्या पन्द्रह सौ वर्षों से पूर्व अर्धमागधी भाषा एवं श्वेताम्बर अर्धमागधी आगमों का अस्तित्व ही नहीं था?

डॉ० सुदीपजी द्वारा टॉटियाजी के नाम से उद्धृत यह कथन कि '१५०० वर्ष पहले अर्धमागधी भाषा का अस्तित्व ही नहीं था' पूर्णतः भ्रान्त है। आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, ऋषिभाषित जैसे आगमों को पाश्चात्य विद्वानों ने एक स्वर से ई०पू० तीसरी-चौथी शताब्दी या उससे भी पूर्वकाल का माना है। क्या उस समय ये आगम अर्धमागधी भाषा में निबद्ध न होकर शौरसेनी में निबद्ध थे? ज्ञातव्य है कि मध्यवर्ती त् के स्थान पर 'द्' और 'ण्'कार की प्रवृत्ति वाली शौरसेनी का जन्म तो उस समय हुआ ही नहीं था अन्यथा अशोक और मथुरा (जो शौरसेनी की जन्मभूमि है) के अभिलेखों में कहीं तो इस शौरसेनी के वैशिष्ट्य वाले शब्दरूप उपलब्ध होने चाहिए थे। क्या शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध ऐसा एक भी ग्रन्थ है, जो ई०पू० में लिखा गया हो? सत्य तो यह है कि भास (ईसा की दूसरी शती) के नाटकों के अतिरिक्त ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूर्व शौरसेनी में निबद्ध एक भी ग्रन्थ नहीं था। इससे प्रतिकूल मागधी और अर्धमागधी के अभिलेख ई०पू० तीसरी शताब्दी से उपलब्ध हो रहे हैं। पुनः यदि ये लोग जिसे अर्धमागधी कह रहे हैं उसे महाराष्ट्री भी मान लें तो उसके भी ग्रन्थ ईसा की प्राथमिक शताब्दियों के उपलब्ध होते हैं। सातवाहन हाल की गाथासप्तशती महाराष्ट्री प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ है, साथ ही यह माना जाता है कि यह ईसा की प्रथम से तीसरी शती के मध्य तक रचित है। पुनः यह भी एक संकलन ग्रन्थ है जिसमें अनेक ग्रन्थों से गाथाएँ संकलित की गयी हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इसके पूर्व भी महाराष्ट्री प्राकृत में ग्रन्थ रचे गये थे। कालिदास के नाटकों जिनमें भी शौरसेनी का प्राचीनतम रूप मिलता है, वे भी ईसा की चतुर्थ शताब्दी के बाद के ही माने जाते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थ स्पष्ट रूप से न केवल अर्धमागधी आगमों से अपितु परवर्ती 'य्' श्रुति प्रधान महाराष्ट्री से भी प्रभावित हैं, किसी भी स्थिति में ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी के पूर्व के सिद्ध नहीं होते हैं।* षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान, सप्तभंगी आदि लगभग ५वीं शती में निर्मित अवधारणाओं की उपस्थिति उन्हें श्वेताम्बर आगमों और उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र (लगभग चतुर्थ शती) से परवर्ती ही सिद्ध करती हैं, क्योंकि

*. देखिए, डॉ० हीरालाल (स्वयं एक दिगम्बर विद्वान्) जैन की 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान', भोपाल, १९६२, पृ० ८३

अर्धमागधी आगमों में ये अवधारणाएँ अनुपस्थित हैं। इस सम्बन्ध में मैंने अपने ग्रन्थ 'गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण' और 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में विस्तार से प्रकाश डाला है। अन्ततोगत्वा यही सिद्ध होता है कि अर्धमागधी भाषा या अर्धमागधी आगम नहीं, अपितु शौरसेनी भाषा ईसा की दूसरी शती के पश्चात् और शौरसेनी आगम ईसा की ५वीं शती के पश्चात् अस्तित्व में आये। अच्छा होगा कि भाई सुदीपजी पहले मागधी और पालि तथा अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अन्तर को एवं इनके प्रत्येक के लक्षणों को तथा जैन आगमिक साहित्य के ग्रन्थों के कालक्रम को और जैन इतिहास को तटस्थ दृष्टि से समझ लें और फिर प्रमाणसहित अपनी कलम निर्भीक रूप से चलायें, व्यर्थ की आधारहीन भ्रान्तियाँ खड़ी करके समाज में कटुता उत्पन्न न करें।

